Gyanvividha [A Peer Reviewed and Refereed Journal] March 2024 : Year-1, Vol-2 : PP-03-05

ज्ञानविविधा
रचना, आलोचना और शोध की त्रैमासिक पत्रिका

Online ISSN : 3048-4537
March 2024 : 1(2)03-05
©2024 Gyanvividha
www.gyanvividha.com

श्रीमती कंचन कुमारी
सहायक प्राध्यापक-हिन्दी,
श्री राधाकृष्ण गोयनका महाविद्यालय
सीतामढ़ी, बिहार

Corresponding Author :

श्रीमती कंचन कुमारी
सहायक प्राध्यापक-हिन्दी,
श्री राधाकृष्ण गोयनका महाविद्यालय
सीतामढ़ी, बिहार

भारतीय समाज में स्त्रियों का जीवन यथार्थ

भारतीय समाज में स्त्री का आत्मसंघर्ष अपनी निरन्तरता में प्रत्येक युग में विद्यमान रहा है। अगर हम प्राचीन समय से अभी तक का आकलन करें तो हमें ज्ञात होगा कि स्त्रियों का समाज के विकास में हर समय योगदान रहा है। यह अलग बात है कि उनके श्रम और योगदान का इतिहास में कहीं आंकड़ा दर्ज नहीं किया गया है। इन्हीं आंकड़ों की तलाश ने समाज में "स्त्री-विमर्श" को जन्म दिया है। समकालीन समाज के बदलते परिवेश में स्त्री-विमर्श एक आन्दोलन के रूप में उभर कर आया है। इस आन्दोलन में स्त्री लेखिकाओं ने बढ़ चढकर भाग लिया है और स्त्रियों की भिन्न-भिन्न प्रकार की वेदनाओं को समाज के समक्ष रखने का एक बड़ा प्रयास किया है। इन प्रयासों में एक प्रयास समाज में स्त्री को एक स्वतंत्र व्यक्ति एवं सफल नागरिक के रूप में प्रमाणित करना भी शामिल है। स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत कई महान व्यक्तित्व के द्वारा स्त्रियों को बहुत हद तक समाज के काबिल बनाने के बहुआयामी प्रयास किये गए हैं और इसमें सफलताएँ भी प्राप्त हुई है। सर्वप्रथम हम इस दिशा में डॉ० भीमराव अम्बेडकर के अद्वितीय और अतुलनीय चिन्तन पर विशेष ध्यान देते हुए स्त्रियों के समयोचित परिवर्तन पर गहन अध्ययन करते हुए आज के समाज में इनकी स्थिति में काफी सुधार देखते है। 'डॉ. अम्बेडकर' एकमात्र ऐसे विश्वस्तरीय चिन्तक हैं. जिन्होंने परिवार और समाज में स्त्री की स्थिति कैसी हो, इस पर गहन चिन्तन-मनन किया। पुरुषों के साथ स्त्री को भी समानता व स्वतंत्रता मिले, उसे सामाजिक आजादी के साथ आर्थिक आजादी भी प्राप्त हो, परिवार में उसका दर्जा पुरुष के समान हो, इसके लिए उन्होंनें कई क्रांतिकारी आन्दोलन किए।'[(1)] उनके द्वारा किए गये आन्दोलनों का प्रभाव समाज की महिलाओं पर होने लगा और वे स्वयं अपनी पहचान बनाने के लिए समाज में आगे आने लगीं। डॉ. अम्बेडकर ने विदेश में अध्ययन करते हुए यह देखा कि विदेशी महिलाओं और भारतीय महिलाओं में एक बड़ा अन्तर शिक्षा के कारण है, उन्होंनें भारत लौटकर महिलाओं को शिक्षित करने पर विशेष जोर दिया। उनका कहना था कि बिना शिक्षा के स्त्री का विकास, और बिना स्त्री के विकास के

समाज का विकास समंभव नहीं हो सकता। शिक्षा के अलावा समाजिक कुरीतियां भी उनके विकास को बाधित करता रहा है जिसके कारण वे अपनी क्षमता और स्वतंत्रता को पहचान सकने में असमर्थ थीं। 'भारतीय स्त्रीयों को अपनी सामाजिक स्थिति और अपनी यातना की पहचान ही नहीं थी।अपने घर की चहारदिवारी की परेशानीयों से बिना शिकायत जुझना उनकी मजबूरी थी और उन्हें यथासंभव संवारकर चलना उनका स्वभाव।'[(2)] जब परिवार नामक संस्था की शुरुआत हुई उस समय स्त्री-पुरूष दोनों की जिम्मेवारीयों का बँटवारा करते हुए यह ध्यान रखा गया कि कौन सा काम परिवार के संचालन के लिए ज्यादा जरुरी है और स्त्री-पुरुष की क्षमताएँ क्या हैं। उन्हीं के अनुरूप स्त्री को घर की देखभाल एवं बच्चों के पालन-पोषण की जिम्मेवारी दी गई एवं पुरुषों को घर को सुचारू ढंग से चलाने के लिए साधन जुटाने के कार्य सौंपे गए। स्त्री घर और बच्चों के साथ साथ पुरुष जो उसके बच्चों का भरण-पोषण करता था, उसका भी ध्यान रखती थी। श्रम दोनों ही किया करते हों बस दोनों के कार्य-क्षेत्र अलग-अलग थे। बाहर काम करने के कारण पुरूषों की जगह समाज में बनती गई और वे जिन कार्यों को करते थें उसे समाज के विकास के लिए आवश्यक माना जाने लगा। पुरुषों द्वारा घर के बाहर किये गए कार्यों का एक निश्चित समय एवं मूल्य होता था।उन्हें उनके कार्यों के बदले कीमत मिलती थी। चूंकी महिलाओं का कार्य-क्षेत्र चारदिवारी के अन्दर होने की वजह से उनके द्वारा किये गए कार्यों की कोई कीमत नहीं होती थी जिस कारण उनका कार्य समाज के लिए कोई मूल्य नहीं रखता था। धीरे-धीरे स्त्रियों के कार्यक्षेत्र का दायरा बढ़ता गया अब वे पुरुषों के साथ बाहर के कार्यों में भी हाथ बटांने लगी। घर के बाहर हर वो कार्य जो पुरूष करता था चाहे वह कृषि हो, उद्योग हो, मजदूरी हो या नौकरी हो उनके साथ वह भी अपनी भागीदारी निश्चित करने लगीं। बराबरी का कार्य करने के पश्चात् भी उनके कार्यों की कोई गणना नहीं होती थी जबकि वे इसके साथ-साथ अपने बच्चों की देखभाल और परवरिश भी स्वंय ही किया करती थी। सिर्फ एक ही कमी ने उन्हें बिना मूल्य का कर दिया की वे स्वंय के द्वारा किये गए कार्यो का अलग से कोई मूल्य नहीं लेती थीं। 'अपने अधिकारों के प्रति अज्ञानता, अपने घरेलू श्रम को कम करके आँकना बचपन में विवाह, विधवा हो जाने पर सामान्य जीवन जीने पर अंकुश आदि ऐसी कुरीतियां थी जिसके चलते उन्हें शिक्षित करना उस कालखंड की अनिवार्यता बन गयी'[(3)] शिक्षा के बढ़ते प्रचलन एवं प्रचार-प्रसार ने स्त्रियों को घर से बाहर निकलने का एक नया अवसर प्रदान किया है। अब वे सिर्फ काम करने नहीं अपितु स्वयं को शिक्षित कर एक सफल नागरिक बनाने के प्रयास की ओर अग्रसर हो रहीं हैं। परन्तु इस दिशा में उन्हें कितनी सफलता प्राप्त हो रही है यह एक विचारणीय प्रश्न है। अगर कोई स्त्री घर से बाहर काम कर रही है तो उसमें दो बाते हैं- पहला उसकी आर्थिक स्वतंत्रता और दूसरा समाज के कार्यों में उसका सहयोग। स्त्रियों के इस प्रयास को समाज या तो उसकी मजबूरी या फिर उसका शौक समझकर अपना रहा है। जबकि आवश्यकता है कि समाज के विकास के लिए भी स्त्रियों की कार्यक्षमता को पहचाना जाए। भारतीय समाज में आज कई ऐसे उदाहरण हैं जिसमें स्त्रियों ने यह प्रमाणित किया है कि वे भी हर कार्य करने को सक्षम हैं। यहाँ इसकी तुलना पुरुष समाज से ना करते हुए उन्हें एक स्वतंत्र नागरिक के रूप में देखने की आवश्यकता है। सामाजिक विकास के लिए स्त्रियों को सहयोगी के रूप में स्वीकार करने की आवश्यकता है। "श्रृंखला की कड़ियाँ" में भी महादेवी वर्मा ने लिखा है- "भारतीय पुरुष ने स्त्री को या तो सुख के साधन के रूप में पाया भार रूप में, फलतः वह उसे सहयोगी का आदर न दे सका। उन दोनों का आदान-प्रदान सामाजिक प्राणियों के स्वेच्छा से स्वीकृत सहयोग की गरिमा न पा सका, क्यों कि एक ओर नितान्त परवशता और दूसरी स्वच्छन्द आत्म निर्भरता थी।"[(4)]

इन वाक्यों से यह ज्ञात होता है कि स्त्री सदैव परवश रही है। भारतीय समाज, पुरुष-समाज है, उन्हें इस समाज में जीने के लिए स्त्रियों के सहारे की आवश्यकता नहीं पड़ती है। वे अपने जीवन में स्त्रियों की कल्पना या तो माता के रूप में करते हैं या अपने जीवन को सुखी बनाने के लिए पत्नि के रूप में और ऐसा नहीं कि किसी स्त्री के बिना उनका जीवन दुखपूर्ण होता है। अगर वे चाहें वो किसी भी अवस्था में अपना जीवन समाज में व्यतीत कर सकते हैं। लेकिन स्त्रियों के जीवन के साथ ऐसा नहीं है उन्हें हर एक कार्य के लिए पुरुषों

पर निर्भर रहना पड़ता है और बिना किसी पुरूष के साथ के तो उनके जीवन की कल्पना ही नहीं की जाती है। इस पुरुष प्रधान समाज में उन्हें उनका प्रश्रय लेना ही पड़ता है। फिर वह पुरुष चाहे पिता हो, भाई हो या पति हो। किसी ना किसी रूप में उनका सहयोग आवश्यक हो जाता है।

यही आवश्यकता स्त्रियों को स्वतंत्र नागरिक बनने से दूर करती है और समाज उन्हें सहयोगी के रूप में स्वीकार नहीं कर पाता। समाज को आज भी इस बात का आभास कराना आवश्यक है कि स्त्रियों के समाज के प्रति समर्पण को, जरूरत को और सहभागीता को सिर्फ उनकी स्वयं की आवश्यकता ना समझकर एक स्वतंत्र व्यक्ति के रूप में स्वीकार करे। 'स्त्री के कामकाजी होने और घर संभालने की परम्परागत भूमिका से भिन्न भूमिका ने स्त्री की स्थिति एवं समाज में उसके दर्जे को प्रभावित किया। परिवार और समाज में उसके सम्बन्धों को भी प्रभावित किया। स्त्री ने अपनी नई भूमिका स्वीकार की, उसके लिए कड़ा संघर्ष भी किया परिवार एवं समाज की स्त्री की इस बदली हुई भूमिका के प्रति क्या दृष्टि रही, उसकी मानसिकता में बदलाव आया या नहीं, उसका दृष्टिकोण प्रभावित हुआ या नहीं,यह भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि स्त्री का बदला हुआ दृष्टिकोण।'[5] यदि कोई स्त्री घर से बाहर कार्य करके अर्थोपार्जन कर अपने परिवार को आर्थिक सहयोग कर रही है तो परिवार का भी दायित्व है कि वह उसकी परिवारिक जिम्मेवारीयों को निभाने में उसका हाथ बंटाए। स्त्रियों ने तो चाहे मजबूरीवश या अपनी इच्छानुरूप समाज में कदम रख दिया है लेकिन उसके अनुसार पुरुषों ने अभी तक उसका साथ देना शुरू नहीं किया है। इस वजह से स्त्रियों को दोहरी जिम्मेवारियों का वहन करना पड़ रहा है। वह आज के दौर में इतनी व्यस्त चुकी है कि उसके पास परिवार के लिए समय ही नहीं है बस यंत्रवत् कार्य करती जा रही है यह स्थिति कहीं ना कहीं उसके परिवारिक सम्बन्धों को प्रभावित कर रही है। 'पारिवारिक दायित्वों की पूर्ति न कर पाने वाली स्त्री पर अयोग्य माँ और पत्नी का आरोप लगता है, स्त्री में अपराध बोध जगाया जाता है। पति का घर-गृहस्थी के काम में हाथ बंटाना आपत्तिजनक ही नहीं मनोबल तोड़नेवाला पुंसत्व विहीन स्वास्थ्य लिए अहितकर भी माना जाता है'[6] जबकि इसी प्रकार के कई कार्य जो घरेलू व स्त्रीप्रधान समझे जाते है उसे पुरूष घर के बाहर सम्मान से करता है, छोटे उद्योग हो या बड़े पैमाने का व्यवसाय समाज में पुरुषों के द्वारा ही किया जाता है, उस वक्त तो उनमें हीनताबोध नहीं जगता क्योंकि उसके बदले उन्हें मूल्य मिलता है। इस प्रकार एक ही कार्य स्त्री बिना किसी मूल्य के करती है और पुरुषों को इसका मूल्य मिलता है। आज के समाज में होटल मैनेजमेंट सफाई कर्मी या नौकर का काम ये सभी पुरुषों के द्वारा घर के बाहर किए जाते हैं जबकि घरों में यह कार्य स्त्रीप्रधान ही माना जाता है, यह एक संकीर्ण मानसीकता की पहचान कराता है।' पुरुष प्रधान परिवेश में परवरिश स्त्री से 'अधिकारों का त्याग' माँगता है और स्वावलम्बन 'अधिकारों की चाह' इन दोनों के बीच बंटी हुई स्त्री निरन्तर तनाव झेलती है और टुकड़ा टुकड़ा जीती है।[7] इन दोराहों पर खड़ी स्त्री अपने अस्तित्व और स्वाभिमान की माँग करती है। इन्हें जरूरत है ऐसे सहारे की जो इनका मनोबल बढ़ा सके। सरकार के द्वारा जो वो अवसर इन्हें प्राप्त हो रहा है। उनको प्राप्त कर स्वयं की कुशलता को प्रमाणित करने में इन्हें अपने परिवार की सहयोग की आवश्यकता है यदि समाज चाहता है कि आधी आबादी समान उसके विकास में योगदान करें तो समाज को भी चाहिए की यह उसकी जिम्मेवारियों को निभाने में परिवारिक और सामाजिक स्तर पर उनका साथ दे तभी स्त्रीयों के साथ-साथ समाज का भी विकास सम्भव होगा।

संदर्भ सूची

1. चौखट पर स्त्री-अनिता भारतीय पृ.51 अनन्य प्रकाशन, दिल्ली
2. चौखट पर स्त्री-सुधा अरोड़ा पृ.19
3. वही पृ.20
4. श्रृंखला की कड़ियाँ-महादेवी वर्मा पृ.41 लोकभारती प्रकाशन
5. स्त्री चिन्तन की चुनौतियाँ-रेखा कस्तूर पृ.92 राजकमल प्रकाशन
6. वही पृ-93
7. वही पृ.93